ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियाँ और भारतीय कृषि संकट

प्राप्तिः 22.01.26
स्वीकृतः 08.03.26

06

डॉ. श्वेता शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर (इतिहास विभाग)
मान्यवर कांशीराम राजकीय
महाविद्यालय, गाजियाबाद
ईमेलः *historymkrgcgzb@gmail.com*

सारांश

भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार प्राचीन काल से कृषि रही है, जहाँ भूमि–प्रबंधन, कर–संग्रह तथा उत्पादन की प्रक्रिया सामुदायिक संतुलन और परंपरागत अधिकारों पर आधारित थी। मुगल काल में भी कर–व्यवस्था उत्पादन के अनुपात में लचीली थी, जिससे प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति में कृषकों को कुछ राहत मिली थी। 1765 में दीवानी अधिकार प्राप्त करने के पश्चात ईस्ट इंडिया कंपनी ने भूमि–राजस्व को अपनी आय का मुख्य स्त्रोत बना लिया। औपनिवेशिक शासन का उद्देश्य प्रशासनिक संतुलन नहीं, बल्कि अधिकतम राजस्व–संग्रह था। इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु 1793 का स्थायी बंदोबस्त, 19वीं शताब्दी प्रारंभ मे रैयतवाड़ी व्यवस्था तथा 1822–1833 के बीच महालवाड़ी व्यवस्था लागू की गई। इन व्यवस्थाओं ने भूमि को करयोग्य संपत्ति में परिवर्तित कर दिया तथा नकद और निश्चित लगान की अनिवार्यता स्थापित की। स्थायी बंदोबस्त ने जमींदार वर्ग को भूमि का वैधानिक स्वामी बनाया, जिससे कृषकों पर अतिरिक्त बोझ पड़ा। रैयतवाड़ी व्यवस्था में कृषक सीधे राज्य के प्रति उत्तरदायी बना, परंतु उच्च लगान–दर और नकद भुगतान की बाध्यता ने उसे ऋणग्रस्त कर दिया। महालवाड़ी व्यवस्था में ग्राम–समुदाय को कर की इकाई बनाया गया, किंतु व्यवहार में इसका नियंत्रण औपनिवेशिक अधिकारियों और स्थानीय प्रभुओं के हाथों में रहा। तीनों व्यवस्थाओं का परिणाम कृषकों की भूमि–हानि, निर्धनता और असुरक्षा के रूप में सामने आया। सांख्यिकीय विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 18वीं और 19वीं शताब्दी में बार–बार पड़े अकाल केवल प्राकृतिक कारणों से नहीं, बल्कि औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों से भी जुड़े थे। उच्च लगान–दर, नकदी फसलों का प्रसार तथा खाद्यान्न उत्पादन में कमी ने ग्रामीण समाज को संकटग्रस्त बना दिया। ऋणग्रस्तता बढ़ी, साहूकार वर्ग सशक्त हुआ और लाखों किसान भमिहीन श्रमिक बन गए। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियाँ भारतीय कृषि के लिए संरचनात्मक रूप

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.06

से विनाशकारी सिद्ध हुई। उन्होंने कृषि उत्पादन, ग्रामीण सामाजिक संरचना और आर्थिक आत्मनिर्भरता को कमजोर किया तथा अकालों और निर्धनता की तीव्रता को बढ़ाया। स्वतंत्र भारत में भूमि–सुधार और जमींदारी उन्मूलन के प्रयास इसी औपनिवेशिक विरासत के दुष्परिणामों को दूर करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे।

1. भूमिका

भारतीय अर्थव्यवस्था का ऐतिहासिक आधार कृषि रही है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में भूमि–राजस्व व्यवस्था उत्पादन, परंपरा और सामुदायिक सहभागिता पर आधारित थी। ग्राम–समुदाय भूमि–प्रबंधन, सिंचाई, फसल–वितरण और कर–संग्रह की प्रक्रियाओं में सक्रिय भूमिका निभाते थे। भूमि पर अंतिम स्वामित्व भले ही राज्य का माना जाता रहा हो, किंतु कृषकों को प्रथागत अधिकार प्राप्त थे और वे भूमि से बेदखल नहीं किए जाते थे। कराधान सामान्यतः उपज के अनुपात में होता था, जिससे प्राकृतिक आपदाओं या फसल–हानि की स्थिति में लचीलापन संभव रहता था। मुगल काल में 'खराज' अथवा जहाँगीरी व्यवस्था के अंतर्गत लगान सामान्यतः उत्पादन का एक–तिहाई से एक–आधा तक निर्धारित होता था, परंतु यह मौसमी परिस्थितियों और वास्तविक उपज के अनुसार परिवर्तनीय था।[1] इस प्रकार राज्य और कृषक के बीच संबंध पूर्णतः शोषणकारी न होकर प्रशासनिक और पारंपरिक संतुलन पर आधारित थे।

1765 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने भूमि–राजस्व को अपनी आय का प्रमुख स्त्रोत बना लिया। कंपनी का उद्देश्य केवल प्रशासनिक नियंत्रण नहीं, बल्कि अधिकतम राजस्व–संग्रह के माध्यम से अपने व्यापारिक घाटे की पूर्ति तथा ब्रिटेन को वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराना था।[2] इस प्रक्रिया में पारंपरिक लचीली व्यवस्था को समाप्त कर राजस्व को नकद और निश्चित रूप में वसूलने की नीति अपनाई गई। भूमि को एक करयोग्य संपत्ति और राजस्व–संग्रह की स्थायी इकाई के रूप में पुनर्परिभाषित किया गया। 19वीं शताब्दी तक भू–राजस्व भारत की कुल सरकारी आय का लगभग 50–60 प्रतिशत भाग बन गया, जिससे स्पष्ट होता है कि कृषि औपनिवेशिक वित्तीय संरचना का केंद्रीय आधार थी।

राजस्व–संग्रह की स्थिरता सुनिश्चित करने हेतु तीन प्रमुख व्यवस्थाएँ लागू की गईं– 1793 का स्थायी बंदोबस्त, 1820 के दशक की रैयतवाड़ी प्रणाली तथा 1833 के बाद विकसित महालवाड़ी व्यवस्था। इन नीतियों के माध्यम से भूमि को वस्तु में रूपांतरित कर निजी स्वामित्व की अवधारणा को सुदृढ़ किया गया। स्थायी बंदोबस्त ने जमींदार वर्ग को भूमि का स्वामी बनाया, जबकि रैयतवाड़ी व्यवस्था में किसान को सीधे राज्य के प्रति उत्तरदायी किया गया। महालवाड़ी व्यवस्था में ग्राम–समुदाय को कर की इकाई बनाया गया। यद्यपि इन व्यवस्थाओं का घोषित उद्देश्य प्रशासनिक सुधार और कृषि विकास था, किंतु व्यवहार में इनका परिणाम उच्च नकद लगान, ऋणग्रस्तता और भूमि–विहीनता के रूप में सामने आया।

इतिहासकार रोमेश चंद्र दत्त ने अपनी कृति भारत का आर्थिक इतिहास में स्पष्ट रूप से लिखा है कि ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियाँ भारतीय गरीबी और बारंबार अकालों का प्रमुख कारण थीं।[3] दादाभाई नौरोजी ने 'धन–निष्कासन सिद्धांत' के माध्यम से यह प्रतिपादित किया कि भारत से निरंतर

संसाधनों का प्रवाह ब्रिटेन की ओर हुआ, जिससे देश की आर्थिक क्षमता क्षीण हुई। अमर्त्य सेन ने भी यह दिखाया कि औपनिवेशिक काल में अकाल केवल प्राकृतिक आपदा का परिणाम नहीं थे, बल्कि आर्थिक नीतियों और वितरण–व्यवस्था की विफलता से जुड़े थे।[4] इस प्रकार ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियों ने न केवल पारंपरिक कृषि ढाँचे को परिवर्तित किया, बल्कि भारतीय कृषि संकट की संरचनात्मक आधारभूमि भी तैयार की।

2. ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियों का ऐतिहासिक विकास

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (1765) प्राप्त करने के पश्चात ईस्ट इंडिया कंपनी के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती नियमित और अधिकतम राजस्व–संग्रह की थी। मुगल प्रशासनिक संरचना के पतन और कंपनी की सीमित समझ के कारण प्रारंभिक वर्षों में राजस्व–संग्रह के विभिन्न प्रयोग किए गए। द्वैध शासन की व्यवस्था में वास्तविक प्रशासनिक उत्तरदायित्व भारतीय नायबों पर छोड़ दिया गया, जबकि राजस्व–संग्रह का अधिकार कंपनी के हाथ में था। इस व्यवस्था के अंतर्गत इजारा प्रथा (राजस्व–ठेकेदारी) तथा अल्पकालिक बंदोबस्त लागू किए गए, जिनमें राजस्व वसूली का अधिकार ठेकेदारों को दिया जाता था।[5] इन प्रयोगों का परिणाम यह हुआ कि ठेकेदार अधिकतम लाभ की लालसा में किसानों से कठोर वसूली करने लगे, जिससे कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था अस्थिर हो गई। कंपनी को यह स्पष्ट हो गया कि राजस्व की दीर्घकालीन स्थिरता हेतु एक संगठित एवं स्थायी प्रणाली आवश्यक है।

इसी पृष्ठभूमि में 1793 में लॉर्ड कॉर्नवालिस ने स्थायी बंदोबस्त लागू किया। यह व्यवस्था मुख्यतः बंगाल, बिहार, उड़ीसा और कुछ अन्य क्षेत्रों में प्रभावी हुई। इसके अंतर्गत भूमि–राजस्व की दरें स्थायी रूप से निश्चित कर दी गईं तथा जमींदारों को भूमि का वैधानिक स्वामी घोषित किया गया। कंपनी का विश्वास था कि यदि ज़मींदारों को स्थिर अधिकार दिए जाएँगे तो वे कृषि सुधार में निवेश करेंगे और उत्पादन बढ़ेगा। किंतु व्यवहार में इसका परिणाम उल्टा हुआ। राजस्व की दरें अत्यधिक थीं और निर्धारित समय पर भुगतान न करने से स्थिति में भूमि की नीलामी की जाती थी। फलतः एक नए जमींदार वर्ग का उदय हुआ, जिसने किसानों से अधिकतम किराया वसूलने की नीति अपनाई।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में मद्रास और बॉम्बे प्रेसिडेंसी में थॉमस मुनरो ने रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की।[6] इस प्रणाली में किसान (रैयत) को भूमि का स्वामी माना गया और वह सीधे राज्य को लगान देता था। भूमि का सर्वेक्षण और वर्गीकरण कर उपज का अनुमान लगाया जाता था, जिसके आधार पर कर निर्धारित किया जाता था। यद्यपि इस व्यवस्था को अधिक न्यायसंगत बताया गया, परंतु कर–दरें प्रायः उत्पादन के 45–55 प्रतिशत तक पहुँच जाती थीं। नकद भुगतान की अनिवार्यता ने किसानों को साहूकारों पर निर्भर बना दिया।

उत्तर–पश्चिमी प्रांतों और पंजाब में होल्ट मैकेंजी तथा विलियम बेंटिंक के काल में महालवाड़ी व्यवस्था (1822–1833) लागू की गई।[7] इस प्रणाली में गाँव या 'महाल' को कर–संग्रह की इकाई माना गया। सामूहिक उत्तरदायित्व की यह व्यवस्था ग्राम–समुदाय की परंपरा पर आधारित बताई गई, किंतु वास्तविक नियंत्रण ब्रिटिश अधिकारियों के हाथ में था। कर–दरें ऊँची और नकद थीं, जिससे प्राकृतिक आपदा या फसल–विफलता की स्थिति में भी वसूली अनिवार्य रहती थी।

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.06

इन तीनों व्यवस्थाओं का घोषित उद्देश्य प्रशासनिक दक्षता और राजस्व की स्थिरता था, परंतु वस्तुतः वे औपनिवेशिक वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन थीं। उच्च लगान, नकद वसूली और कठोर प्रवर्तन ने भारतीय कृषकों को ऋणग्रस्तता, भूमि–विहीनता और दीर्घकालीन कृषि संकट की ओर धकेल दिया।

3. प्रमुख भू–राजस्व व्यवस्थाएँ तथा उनका कृषि पर प्रभाव

3.1 स्थायी बंदोबस्त (1793)

स्थायी बंदोबस्त 1793 में लॉर्ड कॉर्नविलास द्वारा बंगाल प्रेसिडेंसी में लागू किया गया। इस व्यवस्था के अंतर्गत ज़मींदारों को भूमि का स्थायी स्वामी घोषित किया गया तथा राज्य के प्रति उनका वार्षिक लगान स्थायी रूप से निश्चित कर दिया गया। राजस्व की यह राशि कुल अनुमानित उत्पादन का लगभग 10/11 वाँ हिस्सा मानी जाती थी, जिसे भविष्य में कभी नहीं बढ़ाया जाना था।[8] ब्रिटिश प्रशासन का विश्वास था कि यदि ज़मींदारों को स्थायी स्वामित्व दिया जाएगा तो वे कृषि सुधार, सिंचाई और भूमि–उत्पादकता में निवेश करेंगे।

परंतु व्यवहार में यह व्यवस्था कृषक हितों के विपरीत सिद्ध हुई। अनेक ज़मींदार अनुपस्थित बन गए और अपने क्षेत्रों में प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित न रहकर केवल लगान वसूली तक सीमित रहे। कृषि में सुधार या निवेश के प्रति उनका कोई वास्तविक प्रोत्साहन नहीं था, क्योंकि राज्य के प्रति उनका राजस्व स्थिर था। परिणामस्वरूप किसानों (रैयतों) पर अत्यधिक दबाव डाला गया। बेदखली, मारपीट और अतिरिक्त उपकरों की वसूली जैसी प्रवृत्तियाँ बढ़ीं। कृषकों की असुरक्षा और शोषण के कारण कृषि उत्पादकता में अपेक्षित वृद्धि नहीं हुई; कई क्षेत्रों में यह स्थिर रही या घट गई। ग्रामीण समाज में आर्थिक असमानता गहराई, और ज़मींदारी व्यवस्था शोषण का प्रतीक बन गई।

3.2 रैयतवाड़ी व्यवस्था

रैयतवाड़ी व्यवस्था 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में मद्रास, बॉम्बे तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में लागू की गई। इसमें किसान (रैयत) को भूमि का स्वामी माना गया और वह सीधे राज्य को लगान देता था। लगान की दरें समय–समय पर पुनर्निधारित की जाती थीं, और भूमि के प्रकार के अनुसार भिन्न थीं– सूखी भूमि पर लगभग 50% तथा सिंचित भूमि पर 60% तक।[9] इस व्यवस्था का औपचारिक उद्देश्य मध्यस्थों को हटाकर किसान और राज्य के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना था।

किन्तु व्यवहार में यह प्रणाली भी कृषकों के लिए दुष्परिणामी सिद्ध हुई। लगान ऊँचा और नकद था, तथा सूखा, बाढ़ या प्राकृतिक आपदा की स्थिति में भी वसूली अनिवार्य रहती थी। इससे किसान साहूकारों से ऋण लेने को विवश हुए। ऋणग्रस्तता के कारण भूमि गिरवी रखने, बिक्री या बेदखली की घटनाएँ बढ़ीं। कृषि उत्पादन में अनिश्चितता और निवेश की कमी बनी रही, क्योंकि किसान भविष्य के कर–निर्धारण और प्राकृतिक जोखिमों से असुरक्षित थे।

3.3 महालवाड़ी व्यवस्था

महालवाड़ी व्यवस्था उत्तर भारत–विशेषतः उत्तर–पश्चिमी प्रांतों और पंजाब– में लागू की गई। इस प्रणाली में गाँव या 'महाल' को कर–संग्रह की सामूहिक इकाई माना गया और लगान पूरे गाँव के कुल उत्पादन के आधार पर निर्धारित किया गया।[10] ग्राम–समुदाय को सामूहिक रूप से कर भुगतान का उत्तरदायी बनाया गया, जिससे सामुदायिक परंपरा का आभास दिया गया।

किन्तु इस व्यवस्था में भी अनेक व्यावहारिक समस्याएँ थीं। ग्राम–प्रधानों और बड़े किसानों ने छोटे कृषकों पर प्रभुत्व स्थापित किया और सामूहिक जिम्मेदारी के नाम पर उनका शोषण किया। सामूहिक उत्तरदायित्व ने आंतरिक असमानता को बढ़ावा दिया। यद्यपि यह स्थायी बंदोबस्त की तुलना में कुछ क्षेत्रों में कम कठोर थी, फिर भी उच्च कर–दरें और नकद वसूली के कारण कृषि उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार, तीनों प्रमुख भू–राजस्व व्यवस्थाओं का घोषित उद्देश्य प्रशासनिक सुधार और राजस्व–संग्रह था, परंतु उनका समग्र प्रभाव भारतीय कृषि के लिए अस्थिरता, शोषण और दीर्घकालीन संकट के रूप मे सामने आया।

4. कृषि संकट का सांख्यिकीय तथा ऐतिहासिक विश्लेषण

ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियों के प्रभाव का मूल्यांकन केवल नीतिगत विवरणों से नहीं, बल्कि अकाल, उत्पादन, ऋणग्रस्तता और ग्रामीण संरचना में आए परिवर्तनों के सांख्यिकीय विश्लेषण से अधिक स्पष्ट होता है। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 20वीं शताब्दी के मध्य तक भारत बार–बार भीषण अकालों से ग्रस्त रहा। इन अकालों के पीछे प्राकृतिक कारणों (सूखा, मानसून की विफलता) के साथ–साथ औपनिवेशिक राजस्व नीतियाँ और निर्यात–उन्मुख कृषि संरचना भी उत्तरदायी थीं।

तालिका 1: प्रमुख अकाल तथा कारण

वर्ष	क्षेत्र	मृत्यु संख्या (लाख में)	प्रमुख कारण
1770	बंगाल	100	उच्च वसूली, सूखा
1876–78	दक्षिण भारत	50–60	रैयतवाड़ी उच्च लगान, निर्यात–केंद्रित
1896–1900	पूरे भारत	100+	महालवाड़ी/रैयतवाड़ी, खाद्यान्न कम
1943	बंगाल	30–50	युद्ध नीतियाँ, लगान दबाव

1770 का बंगाल अकाल औपनिवेशिक शासन के प्रारंभिक चरण का सबसे विनाशकारी उदाहरण था। अनुमानतः एक–तिहाई जनसंख्या नष्ट हो गई। इस समय कंपनी ने लगान में कोई रियायत नहीं दी, जबकि सूखे के कारण उत्पादन में भारी गिरावट आई थी।[11]

1876–78 का दक्षिण भारत अकाल मुख्यतः मद्रास और बॉम्बे प्रेसिडेंसी में पड़ा। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में ऊँची लगान दरों और कपास जैसे निर्यात–उन्मुख फसलों के प्रसार ने खाद्यान्न उपलब्धता घटा दी। रेलमार्ग और निर्यात नीति के कारण अनाज विदेश भेजा जाता रहा, जबकि स्थानीय जनता भुखमरी से जूझती रही।

1896–1900 के व्यापक अकालों तथा 1943 के ने यह सिद्ध किया कि कृषि संकट केवल प्राकृतिक नहीं, बल्कि नीतिगत भी था। 1943 में युद्धकालीन नीतियों, जमाखोरी और मूल्यवृद्धि के साथ–साथ ग्रामीण निर्धनता ने स्थिति को और गंभीर बना दिया।

तालिका 2: कृषि प्रभाव (1850–1900)

वर्ष	क्षेत्र	लगान दर (% उत्पादन)	ऋणग्रस्त किसान (%)	उत्पादकता गिरावट (%)
1850	बंगाल	40–50	40	–
1900	पूरे भारत	40–60	70+	20–30

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.06

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक लगान दरें उत्पादन के 40–60% तक पहुँच चुकी थीं। नकद भुगतान की अनिवार्यता के कारण किसान साहूकारों पर निर्भर हो गए। 1900 तक लगभग 70% किसान किसी न किसी रूप में ऋणग्रस्त थे।[12]

उच्च लगान ने किसानों को नील, अफीम, कपास और जूट जैसी नकदी फसलों की ओर प्रेरित किया, जिससे खाद्यान्न क्षेत्र में कमी आई। खाद्यान्न उत्पादन घटने और निर्यात बढ़ने से स्थानीय बाजार में उपलब्धता कम हुई। परिणामस्वरूप, उत्पादकता में 20–30% तक गिरावट दर्ज की गई।

अतः सांख्यिकीय एवं ऐतिहासिक विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियाँ केवल राजस्व–संग्रह का साधन नहीं थीं, बल्कि उन्होंने भारतीय कृषि को सरंचनात्मक रूप से कमजोर कर दिया। अकाल, ऋणग्रस्तता और उत्पादकता में गिरावट–ये सभी औपनिवेशिक आर्थिक ढाँचे के दुष्परिणाम थे।

5. परिणाम

ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियों के प्रभाव केवल राजस्व संग्रह तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने भारतीय ग्रामीण समाज, अर्थव्यवस्था और पर्यावरण पर गहरे एवं दीर्घकालिक परिणाम डाले। इन नीतियों का उद्देश्य राजस्व की अधिकतम प्राप्ति था, किंतु इसके परिणामस्वरूप कृषि संरचना में असंतुलन, सामाजिक विषमता और व्यापक निर्धनता उत्पन्न हुई।

1. किसानों की गरीबी तथा भूमि–हानिः– उच्च लगान दरों और नकद भुगतान की अनिवार्यता ने किसानों को आर्थिक रूप से अत्यंत कमजोर बना दिया। समय पर लगान न चुका पाने की स्थिति में उनकी भूमि नीलाम कर दी जाती थी। परिणामस्वरूप लाखों किसान भूमिहीन होकर कृषि मजदूर बन गए। स्थायी बंदोबस्त क्षेत्रों में जमींदारों की कठोर वसूली तथा रैयतवाड़ी क्षेत्रों में प्रत्यक्ष सरकारी दबाव ने किसानों की भूमि–सुरक्षा को समाप्त कर दिया। ग्रामीण समाज में एक नया भूमिहीन वर्ग उत्पन्न हुआ, जो असुरक्षित और निर्धन था।

2. ऋणग्रस्तताः– साहूकारों और महाजनों का उदय इसी काल की प्रमुख विशेषता थी। लगान चुकाने के लिए किसान 25–50% तक की ऊँची ब्याज दरों पर ऋण लेने को विवश थे। ऋण का चक्र इतना गहरा था कि मूलधन से कई गुना ब्याज चुका देने के बाद भी किसान ऋणमुक्त नहीं हो पाते थे। भूमि गिरवी रखना या बेचना आम बात बन गई। इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था में पूँजी का नियंत्रण साहूकार वर्ग के हाथों में केंद्रित हो गया।

3. कृषि का वाणिज्यीकरणः– ब्रिटिश उद्योगों और वैश्विक बाजार की माँग के अनुसार भारतीय कृषि को नकदी फसलों– जैसे नील, कपास, जूट और अफीम– की ओर मोड़ा गया। इससे खाद्यान्न उत्पादन घटा और स्थानीय खाद्य सुरक्षा कमजोर हुई। यद्यपि निर्यात में वृद्धि हुई, किंतु किसानों को इसका समुचित लाभ नहीं मिला, क्योंकि मूल्य निर्धारण और व्यापारिक नियंत्रण औपनिवेशिक संरचना के अधीन था।

4. पर्यावरणीय प्रभावः– नकदी फसलों के अत्यधिक उत्पादन और भूमि पर निरंतर दबाव के कारण मिट्टी की उर्वरता में कमी आई। सिंचाई और तकनीकी निवेश की उपेक्षा के कारण कृषि

पारिस्थितिकी कमजोर हुई। प्राकृतिक संसाधनों के असंतुलित उपयोग ने दीर्घकालिक पर्यावरणीय क्षरण को जन्म दिया।

5. वैश्विक परिप्रेक्ष्यः– ब्रिटिश साम्राज्य ने अफ्रीका और अन्य उपनिवेशों में भी उच्च कराधान और नकदी फसल–आधारित कृषि को प्रोत्साहित किया। भारत में इसका प्रभाव अधिक गहन था, क्योंकि यहाँ की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित थी।

संदर्भ

1. Habib, I. (2003). *The agrarian system of Mughal India (1556–1707).* Oxford University Press.
2. Marshall, P. J. (1987). *Bengal: The British bridgehead.* Cambridge University Press.
3. Dutt, R. C. (1902). *The economic history of India under early British rule.* Kegan Paul.
4. Naoroji, D. (1901). *Poverty and un-British rule in India.* Swan Sonnenschein; Sen, A. (1981). *Poverty and famines.* Oxford University Press.
5. Marshall, P. J. (1987). Bengal: The British bridgehead. Cambridge University Press.
6. Baden-Powell, B. H. (1892). The land systems of British India. Oxford.
7. Stokes, E. (1959). The English utilitarians and India. Oxford University Press.
8. Cornwallis, C. (1793). Permanent Settlement Regulations. Calcutta Gazette.
9. Baden-Powell, B. H. (1892). The land systems of British India. Oxford.
10. Stokes, E. (1959). The English utilitarians and India. Oxford University Press.
11. Government of India, *Report of the Famine Commission (1880)*;
12. Dharma Kumar (ed.), *The Cambridge Economic History of India, Vol. II (c. 1757–1970).*